

---

## इकाई 9 ए. आर. देसाई \*

---

### इकाई की रूपरेखा

- 9.0 उद्देश्य
- 9.1 प्रस्तावना
- 9.2 जीवन परिचय
- 9.3 मुख्य विचार
  - 9.3.1 भारतीय राष्ट्रवाद
  - 9.3.2 भारत में पूँजीवादी परिवर्तन में राज्य की भूमिका
  - 9.3.3 विकास का मार्ग
  - 9.3.4 मार्क्सवादी दृष्टिकोण से भारतीय समाज को समझना
- 9.4 महत्वपूर्ण कृतियाँ
- 9.5 सारांश
- 9.6 संदर्भ
- 9.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

---

### 9.0 उद्देश्य

---

प्रस्तुत इकाई को पढ़ने के बाद आप इस योग्य होंगे कि –

- ए.आर. देसाई का संक्षिप्त जीवन परिचय प्रस्तुत कर सकें;
- भारत में समाजशास्त्र में ए.आर. देसाई के योगदान की व्याख्या कर सकें;
- ए.आर. देसाई के मुख्य विचारों पर चर्चा कर सकें; तथा
- ए.आर. देसाई की महत्वपूर्ण कृतियों की सूची तैयार कर सकें।

---

### 9.1 जीवन परिचय

---

अक्षय रमनलाल देसाई का जन्म 16 अप्रैल, 1915 को गुजरात के नडियाद नामक शहर में हुआ था। उनके पिता रमनलाल वसंतलाल देसाई सन 1920 के और 1930 के दशक में बड़ौदा रियासत में एक प्रशासनिक अधिकारी थे। वह एक प्रसिद्ध साहित्यकार भी थे, जिन्होंने सन 1930 के दशक में अपने लेखन से युवाओं को प्रेरित किया। अपने पिता के साथ बड़ौदा राज्य में की गई यात्राओं ने अक्षय के भावुक मन पर गहरी छाप छोड़ी थी।

एक साहित्यकार होने के नाते रमनलाल देसाई ने किसानों के जीवन का चित्रण करते हुए अनेक उपन्यास लिखे, जो कि युवाओं को प्रभावित कर उन्हें सामाजिक परिवर्तन की ओर प्रेरित करने में सक्षम थे। भारी लगान वसूल कर किसानों का किया जा रहा शोषण, उपनिवेशवाद की तीखी आलोचना, नए भारत के निर्माण में नागरिकों की भूमिका, आदि कुछ ऐसे विषय थे जो उनके उपन्यासों में बार-बार आते रहते थे। वह गांधी जी के भी प्रबल प्रशंसक थे और उनका झुकाव फेबियन समाजवाद की ओर था।

स्वयं पर पड़ रहे उक्त सभी प्रभावों को अक्षय देसाई का युवा मन आत्मसात करता जा रहा था। उन्होंने आसपास की दुनिया में परिवर्तन लाने के लिए हस्तक्षेप करने के उद्देश्य से

---

\* प्रो. वसंती रमन, पूर्व प्रोफेसरियल फेलो, महिला विकास अध्ययन केंद्र (CWDS) तथा सदस्य, भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद (ICSSR) कृत।

उसमें सक्रिय रुचि लेने का विचार अपने पिता से ही ग्रहण किया था। यही गुण उनके अंतकाल तक उनके साथ रहना था। अपनी बाल्यावस्था में उन्हें अपने पिता के माध्यम से साहित्य और संगीत के क्षेत्र की अनेक विभूतियों से भी अवगत कराया गया था। उनमें गहरी राजनीतिक चेतना एक ऐसे पारिवारिक परिवेश से आई थी जो सामाजिक उत्पीड़न के प्रति अत्यधिक संवेदनशील था।

वर्ष 1947 में अक्षय का विवाह नीरा देसाई से हुआ, जिन्होंने भारत में 'महिला अध्ययन' के विकास में एक अग्रणी भूमिका निभाई। उनका पुत्र मिहिर देसाई एक प्रमुख मानवाधिकार विधिवक्ता हैं और मुंबई में पेशा बतौर वकालत करता है।

अध्यापन का व्यवसाय अपना कर अक्षय देसाई ने वर्ष 1946 में सिद्धार्थ कॉलेज में एक व्याख्याता के रूप में अपनी जीवन-यात्रा शुरू की और वर्ष 1951 में बम्बई विश्वविद्यालय के समाजशास्त्र विभाग में नियुक्त हुए, जहाँ वह वर्ष 1969 में प्रोफेसर एवं विभाग प्रमुख बने और फिर वर्ष 1976 में त्यागपत्र देकर सेवामुक्त हुए। वर्ष 1973-75 व 1981-85 की अवधियों में वह भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद (ICSSR) में क्रमशः 'सीनियर फेलो' व 'नेशनल फेलो' नियुक्त हुए।

वर्ष 1980-81 में वह 'इंडियन सोशियोलॉजिकल सोसाइटी' के अध्यक्ष रहे और वर्ष 1988-90 में 'गुजरात सोशियोलॉजिकल सोसाइटी' के अध्यक्ष रहे। वह एकमात्र ऐसे भारतीय समाजशास्त्री थे जो राजनीति में सक्रिय रहे और विभिन्न समयबिंदुओं पर भिन्न-भिन्न गैर-मुख्यधारा के वामपंथी राजनीतिक दलों के सदस्य भी रहे, यहाँ तक कि सन 1930 के दशक में अपने शुरुआती दिनों में वे थोड़े समय के लिए भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य भी रहे थे। अपने प्रारंभिक विद्यार्थी जीवन में स्नातक स्तर की पढ़ाई के दौरान वह एक प्रतिबद्ध मार्क्सवादी थे और वर्ष 1994 में मृत्युपर्यंत वह मार्क्सवादी ही रहे।

अपनी स्नातक स्तर की पढ़ाई के दौरान ही देसाई ने अपना रुख उग्र सुधारवादी राजनीति की ओर कर लिया था। सन 1930 का दशक ही वह काल था जब कांग्रेस द्वारा प्रतिनिधित्व किए जाने वाले मुख्यधारा के राष्ट्रवाद का एक वामपंथी विकल्प भी उभर रहा था। कांग्रेस के भीतर अपेक्षाकृत अधिक वामपंथी वर्गों और दक्षिणपंथी वर्गों के बीच वैचारिक मतभेद थे। फिर भी जो विकल्प वामपंथी था, और कांग्रेस से भिन्न था, वह भी स्पष्ट रूप से उभर रहा था, जो कि कांग्रेस के लिए एक चुनौती बनता जा रहा था।

गुजरात में किसान आंदोलन की शुरुआत सन 1930 के दशक में हुई थी। नवजात कम्युनिस्ट पार्टी के कार्यकर्ताओं सहित बड़ौदा कट्टरपंथी और वामपंथी राजनीति का एक महत्वपूर्ण केंद्र था। ऐसा कहा जाता है कि अक्षय देसाई को बड़ौदा में उनके कॉलेज से उनकी गतिविधियों के लिए निलंबित कर दिया गया था। अपनी पढ़ाई और अपनी गतिविधियों को आगे बढ़ाने के लिए वह सूरत और फिर बम्बई चले गए। बम्बई उन दिनों मजदूर संघों की सक्रियता का प्रमुख केंद्र था और साथ ही तेजी से बढ़ती साम्यवादी गतिविधि का केंद्र भी।

इस पूरी अवधि के बारे में रोचक बात यह थी कि राष्ट्रीय स्तर पर, और गुजरात में भी, राजनीतिक गतिविधियों की अनेक धाराएँ प्रवाहमान थीं। उपनिवेश-विरोधी आंदोलन पर प्रभाव पाने के लिए विभिन्न वैचारिक और राजनीतिक धाराओं के बीच संघर्ष चल रहा था। बम्बई की कपड़ा मिलों के मजदूर, कलकत्ता की जूट मिलें और खदान के मजदूर अमानवीय शोषण, अत्यधिक काम के घंटों और कम मजदूरी के खिलाफ संघर्ष के रास्ते पर थे।

ट्रेड यूनियन आंदोलन मजदूरों के संघर्ष और राष्ट्रवादी आंदोलन दोनों में सबसे आगे था। यह 'महामंदी' का भी दौर था। इसके बाद आई औद्योगिक मंदी ने प्रमुख उद्योगों को प्रभावित किया और इसने श्रमिक आंदोलन में उग्रवाद को और बढ़ावा दिया।

इस अवधि के दौरान साम्यवादी विद्यमानता और श्रमिक आंदोलन का नेतृत्व दोनों और गहरा गए।

मजदूर संघों, किसान सभाओं, छात्र संघों, महिला संगठनों और सांस्कृतिक एवं साहित्यिक मंचों से लेकर लोगों के संगठनों की संख्या बढ़ रही थी, जो कि सभी एक सशक्त उपनिवेशवाद-विरोधी चेतना से ओत-प्रोत थे। इन सभी विभिन्न मंचों पर कांग्रेस, समाजवादियों और साम्यवादियों से लेकर विभिन्न राजनीतिक दलों व शक्तियों ने भिन्न-भिन्न समयबिंदुओं पर एक साथ काम किया।

कहने की आवश्यकता नहीं कि विविध और कभी-कभी अपसारी दृष्टिकोणों को देखते हुए विभिन्न संगठनों में संयुक्त रूप से काम करने का प्रयास सरल नहीं था। तथापि, अलगाववाद के प्रतिकूल पहलुओं के बावजूद राष्ट्रीय आंदोलन की एक उल्लेखनीय विशेषता इसकी समग्रता ही रही। फिर भी सन 1930 के दशक के अंत और 1940 के दशक की शुरुआत में देश पर विभाजन की अनिष्टसूचक छाया देखी गई, जो कि शीघ्र ही एक विकट और भयावह वास्तविकता बनने वाली थी और साथ ही लाने वाली थी पंजाब और बंगाल में आपसी मारकाट!

उक्त सभी बातों के आलोक में यह किसी भी संवेदनशील युवा के लिए चुनौतीपूर्ण समय था। देसाई साम्यवादी आंदोलन में शामिल हो गए और वर्ष 1934 में कम्युनिस्ट पार्टी में शामिल हो गए। बहरहाल, पाँच साल की संक्षिप्त अवधि के बाद ही उन्होंने कम्युनिस्ट पार्टी छोड़ दी क्योंकि पार्टी के नौकरशाही ढाँचे से उनका दम घुटने लगा था। इससे भी महत्वपूर्ण बात, उन्होंने वर्ष 1939 में सोवियत संघ पर नाजी जर्मनी द्वारा हमला किए जाने पर भारत में ब्रिटिश युद्ध के प्रयासों के समर्थन के संबंध में पार्टी के रुख में बदलाव का विरोध किया। अंततोगत्वा वर्ष 1939 में उन्होंने पार्टी से त्यागपत्र दे दिया।

देसाई ने अपने पूरे अध्यापन काल में अनुसंधान एवं सक्रियतावाद को जारी रखा और तदंतर अंग्रेजी व गुजराती दोनों भाषाओं में प्रकाशनों की बहुलता में अग्रणी रहे।

### 9.3 मुख्य विचार

जैसा कि हमने पिछले पाठांश से जाना, देसाई पहले उग्र सुधारवादी राजनीति में शामिल थे और फिर उन वामपंथी एवं मार्क्सवादी समूहों में शामिल हो गए जो सूरत में और तदंतर मुंबई में राष्ट्रवादी आंदोलन में सक्रिय थे। यहाँ उन्होंने अपनी उच्च शिक्षा भी प्राप्त की। फिर अपेक्षित रूप से ही उनकी मुख्य अवधारणाएँ भारतीय राष्ट्रवाद, सामाजिक एवं राजनीतिक परिवर्तन में राज्य की भूमिका, विकास और भारतीय समाज पर मार्क्सवादी दृष्टिकोण से संबंधित रहीं। आगामी पाठांशों में हम उनकी इन अवधारणाओं में से प्रत्येक पर चर्चा करेंगे।

#### 9.3.1 भारतीय राष्ट्रवाद

राष्ट्रवाद ही वह कैनवास व पृष्ठभूमि था जिस पर भारत में सामाजिक विज्ञान ने अपनी जड़ें जमाई थीं। देसाई की सामाजिक पृच्छा उन सवालों और मुद्दों से ही जन्मी थी जो भारतीय समाज और भारतीय जन व उनके संघर्षों के समक्ष थे, और जिनका उन्हें एक अभिन्न अंग माना जाता था। यही वह सबसे महत्वपूर्ण तथ्य है जिसे उनके जीवन-कार्य का आकलन करते समय ध्यान में रखने की आवश्यकता होगी।

उनके लेखन का एक बड़ा हिस्सा ऐतिहासिक भौतिकवाद की पद्धति पर आधारित था। उनके शोध-प्रबंध को *सोशल बैकग्राउंड ऑफ इंडियन नेशनलिज्म* (भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि) नामक पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया गया। बाद में उन्होंने इसका एक और संस्करण निकाला, जिसका शीर्षक था - *रीसेंट ट्रेंड्स इन इंडियन नेशनलिज्म* (भारतीय राष्ट्रवाद में हालिया रुझान)। मूल रूप से उनका पूर्ववर्ती शोध-प्रबंध वर्ष 1946 में प्रकाशित हुआ था और अब तक अनेक संस्करणों में छप चुका है। अपने व्यापक ऐतिहासिक प्रसार से अभिलक्षित यह पुस्तक उपनिवेशवाद-विरोधी आंदोलन के चरम पर होने के दौरान लिखी गई थी, और देश के आसन्न विभाजन सहित देश के विभिन्न अंतर्विरोधों को दर्शाती है।

देसाई उस समय काम कर रही विभिन्न शक्तियों और भारतीय समाज की मूल संरचना में औपनिवेशिक नीतियों द्वारा लाए गए परिवर्तनों का विश्लेषण करते हैं। वह राष्ट्रवाद को एक ऐतिहासिक श्रेणी के रूप में देखते हैं, यथा एक ऐसी आधुनिक परिघटना जो इतिहास के एक बिंदु विशेष पर अस्तित्व में आती है। भारत में यह वस्तुपरक कारकों और व्यक्तिपरक कारकों के संयोजन के परिणामस्वरूप उस समय विकसित हुआ जब भारतीय लोग ब्रिटिश साम्राज्य के राजनीतिक प्रजाजन थे। हालाँकि भारतीय राष्ट्रवाद की प्रारंभिक उत्तेजना उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में ही दिखाई पड़ने लगी थी, उसने ठोस आकार शताब्दी के उत्तरार्ध में ही लिया। फिर जो राष्ट्र उभरा वह कोई सजातीय नहीं था; इसमें ऐसे विभिन्न वर्ग शामिल थे जो औपनिवेशिक हस्तक्षेप के दौरान उत्पन्न हुए थे।

ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन ने भारतीय समाज में एक गहन संरचनात्मक परिवर्तन की शुरुआत की, जिसने उसे विकास के एक नए मार्ग - पूँजीवादी विकास - की ओर अग्रसर किया। साथ ही, उसने भारतीय सामाजिक जीवन के लगभग सभी क्षेत्रों में परिवर्तन की शुरुआत की, यथा परिवहन एवं संचार के आधुनिक साधन से लेकर भूमि में पूँजीवादी संपत्ति संबंध, एक केंद्रीकृत राज्य की स्थापना, पाश्चात्य शिक्षा की शुरुआत व प्रशासन के नए रूप और यहाँ तक कि प्रांतीय स्तरों पर स्वशासन के सीमित रूप तक। इसने पुरानी व्यवस्था को नष्ट कर दिया और अनेक गतिशील नई शक्तियों को जन्म दिया, जिन्होंने भारतीय समाज में क्रांति ला दी, हालाँकि यह सब उनके अपने हितों को पूरा करने के लिए ही था, जो कि वस्तुतः भारत का औपनिवेशिक शोषण था।

उपनिवेशवाद का भारतीय समाज के प्रति एक विरोधाभासी आयाम था और देसाई उसका विश्लेषण करते हैं। मार्क्स ने तर्क दिया था कि अपनी जाति व्यवस्था से अभिलक्षित भारतीय समाज में उत्पादक शक्तियों के स्वरूप को बदलने में पूँजीवाद एक क्रांतिकारी भूमिका निभाएगा; हालाँकि बाद में इस संबंध में मार्क्स के अपने ही विचार बदल गए थे। किंतु देसाई को यह स्पष्ट था कि औपनिवेशिक शासन ने कोई क्रांतिकारी भूमिका नहीं निभाई क्योंकि उसने उन संस्थानों को ही नष्ट कर दिया था जो पूँजीवाद के विकास को सुगम बना सकते थे, यथा यहाँ पूँजीवाद आने से पहले के कारखाने।

देसाई का विचार पूँजीवाद-पूर्व भारतीय सामाजिक संरचना की विशिष्टता को देश की जाति व्यवस्था के साथ ही उजागर करने का भी था। उन्होंने भूमि में निजी संपत्ति के अभाव वाले उस 'आत्मनिर्भर' ग्राम समुदाय की प्रकृति पर प्रकाश डाला जो ब्रिटिश-पूर्व भारत में कृषि व्यवस्था का प्रमुख घटक हुआ करता था। उन्होंने कृषि के रूप-परिवर्तन, शहरी हस्तशिल्प की अवनति और ग्रामीण कारीगर उद्योगों के पतन एवं

विनाश संबंधी सामाजिक परिणामों को भी दर्शाया। 'ये गाँव के शिल्प उद्योग ही थे जिन्होंने गाँव की आर्थिक निरंकुशता के औद्योगिक स्तंभ का गठन किया, जबकि दूसरा स्तंभ आत्मनिर्भर ग्राम कृषि था' (देसाई, 1976: 92)।

उन दिनों उभरने वाली नई सामाजिक शक्तियों एवं वर्गों ने कालांतर में ब्रिटिश औपनिवेशिक-साम्राज्यवादी शासन के साथ अंतर्विरोध की ओर प्रवृत्त किया, जिसने भारतीय राष्ट्रवाद को जन्म दिया। यहाँ उल्लेखनीय बात यह है कि भारतीय राष्ट्रवाद इस उपमहाद्वीप की भौगोलिक विशालता, अतीव जटिलता वाली सामाजिक एवं धार्मिक-सांस्कृतिक विविधताओं, शक्तिशाली संस्थाओं और परंपराओं के बीच उभरा।

ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन और भारतीय समाज के बीच समागम में विभिन्न आंदोलनों का उदय हुआ, जो कि बौद्धिक, राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक आदि सभी क्षेत्रों सम्मिलित करके चलता था। ब्रिटिश शासन द्वारा पैदा की गई स्थिति को बदलने के लिए विभिन्न स्तरों एवं वर्गों द्वारा शुरु किए गए इन प्रयासों ने या तो उसके विभिन्न प्रभावों को आत्मसात करने के लिए या फिर उन्हें चुनौती देने के लिए 'विभिन्न जटिल आंदोलनों' की ओर प्रवृत्त किया, जिन्होंने 'भारतीय लोगों के लिए एक नया, रोमांचक, रोचक, वीरतापूर्ण और अनुपम इतिहास रचा' (देसाई, 1976: viii)।

यद्यपि भारतीय राष्ट्रवाद के विभिन्न चरण देखे गए थे, वर्ष 1918 में गांधी जी के नेतृत्व में शुरु हुआ वह अंतिम चरण ही था जो राष्ट्रवादी आंदोलन के लिए अति महत्वपूर्ण रहा। यह अवधि एक सशक्त जनाधार से अभिलक्षित थी और अनेक वर्ग व समूह राष्ट्रीय आंदोलन में सक्रिय भागीदार रहे थे, भले ही भारतीय पूँजीपतियों के कुछ वर्ग सन 1920 के दशक से ही भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को समर्थन देते आ रहे थे। राष्ट्रीय आंदोलन पर उनका प्रभाव लगातार बढ़ता गया और वे स्वतंत्रतापूर्वक आंदोलन पर हावी हो गए।

ब्रिटिश शासन के तहत औपनिवेशिक शोषण के विविध आयामों का विश्लेषण अपूर्व कुशाग्रता के साथ किया गया है। तदनुसार कृषि और हस्तशिल्प की एकता पर आधारित पुरानी सामाजिक व्यवस्था का विनाश, और

साथ ही नई सामाजिक शक्तियों का उदय, नए सामाजिक वर्गों की वृद्धि, शिक्षा की भूमिका, जाति (जिसे 'हिंदू धर्म का स्टील फ्रेम' कहा जाता है) संबंधी प्रश्न, जातिवाद के विरुद्ध विभिन्न सामाजिक सुधार आंदोलन, राजनीतिक प्रतिनिधित्व के सवाल और जातियों व अल्पसंख्यकों के मुद्दे को संबोधित किया जाता है। उल्लेखनीय बात यह है कि उस समय बौद्धिक अथवा राजनीतिक रूप से बहस किए जाने वाले सभी महत्वपूर्ण प्रश्न पुस्तक में अपना स्थान लेते हैं। उदाहरण के लिए, पूर्व-औपनिवेशिक भारतीय समाज में पूँजीवादी विकास की संभावनाओं पर गंभीरता से चर्चा की गई है और क्या भारत पूँजीवादी रास्ते पर चल सकता था, इसका विश्लेषण किया गया है (देसाई, 1976)।

अपनी पुस्तक *रीसेंट ट्रेंड्स इन इंडियन नेशनलिज्म* (1960) में देसाई विकास के मार्ग का आकलन करते हैं और स्वातंत्र्योत्तर प्रपथ के महत्वपूर्ण अभिलक्षणों का सार बताते हैं। फिर वह पूँजीवादी विकास की असमान प्रकृति और सामंती व अर्ध-सामंती मूल से बँधे मध्य वर्ग (पूँजीवादी वर्ग) पर प्रकाश डालते हैं। भारतीय पूँजीपति वर्ग की सामंती सामाजिक उत्पत्ति एवं संरचना ने उन्हें मध्यवर्गीय लोकतांत्रिक क्रांति के कार्यों को पूरा करने में असमर्थ बना दिया, यथा सामंतवाद का विनाश कर राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था कायम करना तथा समाज का समग्र लोकतंत्रीकरण। इसके अलावा स्वतंत्रता प्राप्ति के समय विरासत में मिला राज्य तंत्र औपनिवेशिक राज्य तंत्र की एक प्रतिकृति मात्र ही था क्योंकि नवप्राप्त स्वतंत्रता कोई वास्तविक स्वतंत्रता नहीं थी, अपितु सत्ता का हस्तांतरण था, जिसमें भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस, जो कि व्यापार एवं पूँजीवादी हितों से काफी प्रभावित थी, ने एक प्रमुख भूमिका निभाई थी।

देसाई के अनुसार, विकास के मार्ग का चुनाव स्पष्ट था, यथा यह पूँजीवादी औद्योगीकरण बनाम समाजवादी औद्योगीकरण था। उनका तर्क है कि दोनों के बीच कोई स्पष्ट अंतर

होना आवश्यक है क्योंकि इसके परिणामस्वरूप गुणात्मक रूप से भिन्न प्रकार के सामाजिक, संस्थागत, वैचारिक एवं सांस्कृतिक प्रतिमान और तदनुसार एक प्रकार के समाज के संरचनात्मक प्रतिमान ज्ञात होंगे (देसाई, 1960)।

स्वतंत्रता-पूर्व काल में संकल्पनाओं और कार्रवाई के क्षेत्रों के रूप में उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद ही देसाई के बौद्धिक एवं राजनीतिक संलग्नता के केंद्र में थे, जबकि स्वातंत्र्योत्तर वर्षों में इनका स्थान राज्य के चरित्र और विकास के मार्ग ने ले लिया।

### बोध प्रश्न 1

1. भारत में राष्ट्रवाद के बोध के प्रति देसाई के दृष्टिकोण को दो वाक्यों में व्यक्त करें।

.....

.....

.....

.....

.....

2. भारत में स्वतंत्रता-पूर्व अवधि और स्वातंत्र्योत्तर अवधि में देसाई के बौद्धिक एवं राजनीतिक कार्य में व्यस्त रहने की स्थिति में क्या अंतर रहा?

.....

.....

.....

.....

.....

### 9.3.2 भारत में पूँजीवादी परिवर्तन में राज्य की भूमिका

देसाई द्वारा स्वातंत्र्योत्तर अवधि के अन्वेषण में दो अवधारणाएँ निरंतर दोहराई जाती रहती हैं, जो हैं – एक, राज्य और सामाजिक एवं राजनीतिक रूपांतरण में उसकी निर्णायक भूमिका, विशेष रूप से ग्रामीण रूपांतरण में, और दूसरी, विकास के मार्ग का प्रश्न। राष्ट्रवादी आंदोलन की अपेक्षाओं के विपरीत, स्वतंत्रता के बाद की अवधि में राज्य ने रूपांतरण की पूँजीवादी प्रक्रिया शुरू कर दी। ऐतिहासिक पद्धति ही इस पूरी अवधि में उनके काम का केंद्रबिंदु रही।

उनकी पहली पुस्तक – *सोशल बैकग्राउंड ऑफ इंडियन नेशनलिज्म* – जिसमें उन्होंने मार्क्सवादी ऐतिहासिक पद्धति विकसित की थी और उनकी बाद की पुस्तक – जिसमें उन्होंने राज्य के वर्ग चरित्र एवं उन वर्गों की प्रकृति व उनके राज्य से संबंधों पर ध्यान केंद्रित किया जो समाज को अभिलक्षित करते हैं – के बीच एक निरंतरता है। महत्वपूर्ण रूप से वह स्वातंत्र्योत्तर विकास के पथ की उत्पत्ति का संबंध राष्ट्रवादी आंदोलन के प्रथम और आंदोलन पर पूँजीपति वर्ग के प्रभुत्व एवं प्रभाव तथा राष्ट्रीय आंदोलन की अवधि के दौरान चुने गए विकल्पों से मानते हैं।

अपने दो संपादित संस्करणों *रूरल सोशियोलॉजी इन इंडिया* (1969) तथा *पेजेंट स्ट्रगल्स इन इंडिया* (1979) में देसाई ने उन लेखों व रिपोर्टों का एक समृद्ध संग्रह एक साथ प्रस्तुत किया है जो दशकों से ग्रामीण समाज में हो रहे बदलाव का नक्शा दर्शाते हैं।

दूसरी पुस्तक *पेजेंट स्ट्रगल्स इन इंडिया* में उन्होंने एरिक वोल्फ की ऐतिहासिक रूप से महत्वपूर्ण पुस्तक *पेजेंट वॉर्स इन द ट्वेंटीथ सेंचुरी* पर प्रकाश डालते हुए एक लेख "अनकन्वेंशनल एंथ्रोपोलॉजी ऑफ द 'ट्रेडिशनल' पेजेंट्री" में कृषक वर्ग की भूमिका का आलोचनात्मक विश्लेषण किया है।

एक उल्लेखनीय प्रस्तावना में देसाई ने विशेष रूप से कृषक वर्ग पर राज्य द्वारा शुरू की गई प्रमुख सामाजिक-आर्थिक नीतियों एवं प्रक्रियाओं के प्रभाव पर ध्यान केंद्रित करते हुए उनको उजागर करने के लिए अनेक शताब्दियों एवं क्षेत्रों से प्राप्त सारी सामग्री को गूँथ कर प्रस्तुत किया है। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात पहले तीन दशकों के दौरान राज्य ने ग्रामीण समाज के रूपांतरण पर ही ध्यान केंद्रित किया।

देसाई राज्य द्वारा लागू की गई नीतियों का विश्लेषण करते हैं, जिसका मुख्य जोर कृषिक प्राधार को पूँजीवाद-पूर्व से पूँजीवादी संबंधों में बदलने पर रहा है। राज्य के सचेत हस्तक्षेप के कारण कृषक समाज एवं संबंध अपना रूप बदल चुके हैं। कृषि नीति का जोर परजीवी जमींदारी प्रथा एवं अन्यत्रवासी बिचौलियों वाली जमींदारी का उन्मूलन तथा उसके स्थान पर राज्य से सीधे जुड़े कृषि पूँजीपतियों, अमीर किसानों और मध्यम किसान मालिकों का एक वर्ग बनाने पर रहा। यह कार्य 'विकास' कार्यक्रमों और भूमि कानूनों के माध्यम से पूरा किया गया, जिससे कृषि पूँजीपतियों के एक वर्ग, धनी किसानों और सहकालिक रूप से एक कंगाल, भूखे, भूमिहीन ग्रामीण सर्वहारा वर्ग के उदय के साथ ही कृषक वर्ग के बीच भेदभाव पनपने लगा।

### 9.3.3 विकास का मार्ग

देसाई की एक प्रमुख चिंता जो उनके पूरे काम में लगातार दोहराई जाती रहती है, वह है विकास का मार्ग। वह इस प्रश्न को ऐसे विभिन्न प्रकार के मुद्दों से जोड़ते हैं जिनका सामना देश ने स्वातंत्र्योत्तर अवधि में किया था। उनका प्रमुख आलोचनात्मक लेख 'आधुनिकीकरण सिंड्रोम' संबंधी रहा है, यथा एक पूँजीवादी पथ व उसके समर्थकों, विशेष रूप से वे शिक्षाविद एवं सामाजिक वैज्ञानिक जो इसे 'एक वांछनीय मूल्य आधार वाक्य' के रूप में देखते हैं, के साथ विकास।

उनकी दो पुस्तकें *स्टेट एंड सोसाइटी इन इंडिया (1975)* और *भारत इंडियाज़ पाथ ऑफ डेवलपमेंट (1984)* में विकास और भारत में सामाजिक परिवर्तन की प्रकृति पर उनके लेखन शामिल हैं। *स्टेट एंड सोसाइटी इन इंडिया* में उन्होंने आधुनिकीकरण की विचारधारा के अंतर्निहित मान्यताओं की आलोचनात्मक जाँच की। उस आधुनिकीकरण अभिधारणा में अंतर्निहित मान्यताओं को आलोचनात्मक दृष्टि से देखते हैं जिसे अकादमिक प्रमाणीकरण से प्रतिपादित किया गया था और जिसने विस्तारशील शैक्षिक तंत्र में पाठ्यक्रम की विषय-वस्तु को आकार दिया था। उनका प्रसिद्ध शोध-प्रबंध 'ट्रेडिशन-मॉडर्निटी' आधुनिकीकरण अभिधारणा का एक महत्वपूर्ण घटक था, जिसने मुख्यधारा के शिक्षाविदों के बीच प्रभाव डाला और जिसने राज्य द्वारा अपनाए गए विकास के पूँजीवादी मार्ग को वस्तुतः छलावरण पहनाया था।

इस प्रकार की बौद्धिक गतिविधियों को राज्य द्वारा आर्थिक रूप से समर्थन दिया गया और पूँजीवादी तर्ज पर विकास को आगे बढ़ाने में मदद की गई। इससे महत्वपूर्ण आँकड़े प्रस्तुत करने में मदद मिली, जो कि ठोस नीतिगत उपायों को सूत्रबद्ध करने में उपयोगी सिद्ध हुए। इसने प्रशासन, सेवाओं व अन्य व्यवसायों को चलाने के लिए एक शिक्षित वर्ग सृजित एवं समेकित करने में भी मदद की। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि यह युवा पीढ़ी को एक विशेष साँचे में ढाल कर सामाजिक बनाने में एक वैचारिक उपकरण के रूप में उपयोगी सिद्ध हुआ (देसाई, 1984: viii)।

देसाई की पुस्तक के केंद्र में भारत का पूँजीवादी रूपांतरण और इस प्रक्रिया में एक प्रमुख प्रेरक के रूप में राज्य की भूमिका है। पूँजीपति वर्ग और राज्य के बीच संबंध, विभिन्न संस्थाओं का गठन, यथा पूँजीवादी विकास को सुगम बनाने के लिए विधिक प्राधार एवं प्रशासनिक तंत्र, और साथ ही प्रमुख नीतिगत पहल, सार्वजनिक क्षेत्र, एक प्रमुख साधन के रूप में योजना, मिश्रित अर्थव्यवस्था और यहाँ तक कि कल्याणकारी राज्य आदि सब पूँजीवादी विकास की सुविधा के लिए ही बनाए गए हैं।

परवर्ती संस्करण *इंडिया'ज पाथ ऑफ डेवलपमेंट : ए मार्क्सिस्ट अप्रोच* में लेखक भारत में मार्क्सवाद के चलन और साम्यवादी पार्टियों के सिद्धांत एवं व्यवहार के साथ गम्भीरतापूर्वक जुड़ा दिखाई देता है। साम्यवादी पार्टियों संबंधी उनके आलोचनात्मक लेख का मुख्य उद्देश्य वस्तुतः दो-सोपानिक क्रांति की आलोचना करना है, यथा एक वह लोकतांत्रिक चरण जब पूँजीवादी लोकतांत्रिक कार्य पूरे होंगे, और दूसरा वह समाजवादी चरण जो बाद में आएगा। इसके लिए तदनुसार सामाजिक शक्तियों के भिन्न-भिन्न गठबंधनों की आवश्यकता होगी, जिनमें पूर्ववर्ती में एक 'प्रगतिशील राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग' के कुछ भागों के साथ गठबंधन की परिकल्पना की गई थी। इसके साथ ही वह 'समाजवाद की ओर शांतिपूर्ण एवं संसदीय मार्ग' के सिद्धांत की तीखी आलोचना करते हैं।

देसाई के अनुसार महत्वपूर्ण प्रश्न था – पूँजीवाद के साम्राज्यवादी चरण के दौरान, विशेषकर अक्टूबर क्रांति के बाद, किसी पिछड़े व मुख्य रूप से कृषि-प्रधान देश में क्रांति की प्रकृति क्या होनी चाहिए? उनका यह पक्का दावा था कि भारत जैसे देश में पूँजीपति वर्ग इतना कमजोर है कि वह अर्थव्यवस्था एवं समाज को औपनिवेशिक अल्पविकास से विकास के पूँजीवादी चरण तक नहीं ले जा सकता। अतः हाशिए पर पड़े ग्रामीण सर्वहारा वर्ग के लोगों के साथ गठबंधन में मजदूर वर्ग के नेतृत्व में पूँजीवादी लोकतांत्रिक कार्यों को पूरा करने के लिए एक समाजवादी क्रांति की आवश्यकता है।

स्वातंत्र्योत्तर भारत में प्रक्रियाओं का विश्लेषण करने में देसाई की चिंता भारतीय राज्य द्वारा अपनाई जा रही विकास की प्रकृति और पथ के प्रति थी। भारतीय समाज पूँजीवादी तर्ज पर आकार ले रहा था और स्वातंत्र्योत्तर भारत में जो राज्य उभरा वह एक पूँजीवादी राज्य था और वह विकास के पूँजीवादी रास्ते पर ही चल रहा था। अतएव समाजशास्त्रियों व समाजविज्ञानियों को विकास के मार्ग संबंधी प्रश्न पर चर्चा करने और भारतीय राज्य के वर्ग चरित्र का विश्लेषण करने की आवश्यकता है ताकि चल रही प्रक्रियाओं व भारतीय लोगों पर उनके प्रभाव को समझा जा सके।

इस प्रकार मुख्य अवधारणाएँ भारतीय समाज में चालू प्रक्रियाओं को समझने के प्रयास में वर्ग और राज्य ही हैं। भारतीय समाज तथा स्वातंत्र्योत्तर भारत में चल रही सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक प्रक्रियाओं और भारतीय लोगों पर इन प्रक्रियाओं के प्रभाव को समझने के अपने प्रयास में देसाई ने मार्क्सवादी दृष्टिकोण को सबसे अधिक प्रासंगिक पाया।

## बोध प्रश्न 2

1. ए.आर. देसाई ने कम्युनिस्ट पार्टी क्यों छोड़ी?

.....

.....

.....

.....



2. भारत में पूँजीवादी विकास को सुगम बनाने वाले मुख्य कारकों की सूची बनाइए।

.....

.....

.....

.....

### 9.3.4 मार्क्सवादी दृष्टिकोण से भारतीय समाज को समझना

देसाई का मुख्य उद्देश्य भारतीय समाज को मार्क्सवादी दृष्टिकोण से समझना और समाज में परिवर्तन लाने के उद्देश्य से भारतीय समाज के विभिन्न अंतर्विरोधों के अध्ययन में मार्क्सवादी पद्धति को लागू करना ही था। अंतर्विरोध का अर्थ केवल संघर्ष या तनाव नहीं होता, बल्कि यह संरचनात्मक एवं सर्वांगी संघर्षों को संदर्भित करता है जो समाज की मूल संरचना को आकार देते हैं, उदाहरण के लिए, मजदूर वर्ग और पूँजीपति वर्ग के बीच अथवा कृषक वर्ग और जमींदारवाद के बीच संघर्ष। उनके अनुसार मार्क्सवादी पद्धति न केवल भारतीय समाज को समझने के लिए महत्वपूर्ण एवं आवश्यक थी, बल्कि यह भी कि मार्क्सवादी पद्धति एवं दृष्टिकोण समाजशास्त्र व सामाजिक नृविज्ञान की विद्याशाखा का एक अभिन्न अंग थी।

वर्ष 1980 में मेरठ में हुए भारतीय समाजशास्त्रीय सम्मेलन में देसाई का अध्यक्षीय भाषण भारतीय समाज के अध्ययन के लिए मार्क्सवादी दृष्टिकोण की प्रासंगिकता पर ही था (देसाई, 1984: 1-19)। इस संदर्भ में यहाँ अनेक तथ्य प्रस्तुत किए जा रहे हैं।

देसाई ने सन 1950 के दशकोपरांत प्रमुख घटनाक्रम पर प्रकाश डाला, जिस पर ध्यान देने की आवश्यकता है। इस घटनाक्रम में ही उच्च शिक्षा का व्यापक विस्तार हुआ। लेखक उत्तरोत्तर अधिक महत्व प्राप्त करते सामाजिक विज्ञान के साथ विश्वविद्यालय व महाविद्यालय जैसे उच्च-शिक्षा संस्थानों के अभूतपूर्व विकास के संदर्भ में कहता है – “राष्ट्रीय परिदृश्य पर सामाजिक विज्ञान में ज्ञान जनित्र और ज्ञान प्रेषित्र बड़े पैमाने पर काम कर रहे हैं”। समाजशास्त्र और सामाजिक नृविज्ञान के क्षेत्र में प्रशिक्षित व्यक्तियों की काफी बड़ी संख्या है। उसने समाजशास्त्र में प्रशिक्षण एवं अनुसंधान के लिए संस्थागत प्राधार का वर्णन एक विशाल ज्ञान उद्योगशाला के रूप में किया है, जो कि व्यष्टिक सर्वेक्षण और व्यष्टिक क्षेत्रीय रिपोर्टों से युक्त ज्ञान उत्पादों का विनिर्माण बड़े पैमाने पर करने में लगा हुआ है (देसाई, 1984: 3)।

देसाई का यह समग्र संबोधन उनके उन पेशेवर सहयोगियों के लिए है जो आंशिक रूप से सामाजिक वैज्ञानिकों की गंभीर आशंकाओं को व्यक्त कर रहे हैं, परंतु एक अर्थ में वह इस व्यवसाय को उस अनुसंधान के सामाजिक महत्व के विषय में एक संवाद में शामिल कर रहे हैं जो किया जा रहा है। यहाँ उठाए गए कुछ महत्वपूर्ण मुद्दों को संक्षेप में निम्नवत् प्रस्तुत किया जा सकता है –

1. वह औपनिवेशिक साँचा जिसके भीतर अपनी दृष्टि को संकुचित करता और रचनात्मकता को कम करता समाजशास्त्रीय अनुसंधान फँसा हुआ है, और अमेरिका व ब्रिटेन में ‘शिक्षा के उच्च प्रतिष्ठाप्राप्त केंद्रों’ से उधार की अवधारणाओं एवं विधियों के साथ एक निर्भरता प्राधार के भीतर समग्र रूप से संचालित होता है। भारतीय परिस्थितियों एवं समाज के लिए इसकी प्रासंगिकता का आकलन किए बिना ही बहिर्जात मॉडलों की इस अविवेकी स्वीकृति ने परिप्रेक्ष्य को विकृत कर दिया है और भारतीय समाजशास्त्र के विकास को रोक दिया है।

2. अनुशासनात्मक सीमाओं का सख्त होना एक खंडित परिप्रेक्ष्य की ओर ले जाता है और इससे ही संबंधित है – भारतविद्या व इतिहास दोनों के ही प्रति आकर्षित होने की अनिच्छा।
3. नीति-निर्माताओं द्वारा अपनाए गए मूल्यों को अविवेकी रूप से स्वीकार करते हुए मूल्य-मुक्त अवस्थिति और एक कथित तटस्थता का महत्वपूर्ण प्रश्न; इससे ही संबंधित समाजशास्त्र के नैतिक आयाम का प्रश्न कहीं अधिक व्यापक है, जो कि 'एक मानवहीन अर्थात् उद्देश्यहीन विद्याशाखा' बन गया है।
4. इस तथ्य के बावजूद कि भारतीय समाज बड़े सामाजिक परिवर्तन के दौर से गुजर रहा है, सभी समाजशास्त्रीय विश्लेषण एक संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक संतुलन मॉडल का अनुसरण करते हुए अपने दृष्टिकोण में अनिवार्यतः अनैतिहासिक, अचल और समकालिक हैं।
5. समाजशास्त्र स्वयं को भारतीय समाज के सामने आने वाले महत्वपूर्ण प्रश्नों से नहीं जोड़ रहा है और इस तरह विकास की दुविधाओं की दिशा में अपना सार्थक योगदान देने में असमर्थ है। महत्वपूर्ण बात यह है कि अधिकांश मुद्दों को समाजशास्त्र और सामाजिक नृविज्ञान नामक विद्याशाखाओं के प्रमुख वृत्तिकों द्वारा व्यक्त किया गया था।

---

#### 9.4 महत्वपूर्ण कृतियाँ

---

ए. आर. देसाई की कुछ महत्वपूर्ण कृतियाँ निम्नलिखित हैं –

- *रीसेंट ट्रेंड्स इन इंडियन नेशनलिज्म* (1960)
- *रुरल सोशियोलॉजी इन इंडिया* (1969)
- *स्टेट एंड सोसाइटी इन इंडिया : एसेज इन डिसेंट* (1975)
- *इंडिया'ज पाथ ऑफ डेवलपमेंट : ए मार्क्सिस्ट अप्रोच* (1984)

---

#### 9.5 सारांश

---

इस इकाई में हमने ए.आर. देसाई की जीवनचरित संबंधी जानकारी के विषय में जाना। हमने पाया कि उनकी मुख्य अवधारणाएँ राष्ट्रवाद, विकास, कृषक वर्ग और सामाजिक एवं राजनीतिक परिवर्तन के मुद्दों के इर्द-गिर्द घूमती थीं। हम भारत में समाज को समझने के लिए उनके विचारों और दृष्टिकोण पर गांधी जी और मार्क्स दोनों के प्रभाव को देख सकते हैं।

अंत में हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि ए.आर. देसाई एक समाजशास्त्री होने के अलावा मजदूर संघ की गतिविधियों में लिप्त एक कार्यकर्ता भी थे।

---

#### 9.6 संदर्भ

---

बेते, ए. 2009 सोशियोजोली एंड इंडोलोजी, *सोशियोलोजिकल बुलटेन* vol. 58 न. 2 मार्च-अगस्त पृष्ठ : 196-211

देसाई, ए. आर., 1960, *रीसेंट ट्रेंड्स इन इंडियन नेशनलिज्म*, बम्बई : पॉपुलर प्रकाशन।

देसाई, ए. आर., 1976, *सोशल बैकग्राउंड ऑफ इंडियन नेशनलिज्म*, बम्बई : पॉपुलर प्रकाशन।

देसाई, ए. आर., 1984, *इंडिया'ज पाथ ऑफ डेवलपमेंट : ए मार्क्सिस्ट अप्रोच*, बम्बई : पॉपुलर प्रकाशन।

ए. आर. देसाई

देशपांड, एस. 2007 फेशनिंग ए पोस्ट-कोलोनियल डिसपलिन पृष्ठ 506 *एन्थ्रोपोलोजी इन द इस्ट* में, पैट्रिश्या ओबरॉय, नंदनी सुन्दर और सतीश देशपांडे द्वारा संपादित, नई दिल्ली : परमानेन्ट ब्लैक

झावेरी, मनसुखलाल 1978. *ए हिस्ट्री ऑफ गुजराती लिटरेचर* पृष्ठ 168, साहित्य अकादमी

मुंशी इंद्रा 2007, पैट्रिक गोडेज़ : *सोशियोलोजिस्ट, इन्वायरेमेंटलिस्ट एंड टाउन प्लानर* पृष्ठ : 174-175, एन्थ्रोपोलोजी इन द इस्ट में।

सावुर मनोरमा एंड मुशी (संपादित) 1995, *कोन्ट्राडिक्शन्स इन इंडियान सोसायटी : इसैस इन ऑनर ऑफ प्रो. ए. आर. देसाई*, जयपुर : रावत पब्लिकेशंस

शाह, घनश्याम 1990 *कैपिटलिस्ट डिवेलपमेन्ट : क्रिटिकल इसैज* : बाम्बे : पाप्युलर प्रकाशन

---

## 9.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

---

### बोध प्रश्न 1

1. देसाई राष्ट्रवाद को एक ऐतिहासिक श्रेणी के रूप में देखते हैं, यथा एक ऐसी आधुनिक परिघटना जो इतिहास के एक निश्चित बिंदु पर अस्तित्व में आती है। भारत में यह वस्तुपरक कारकों और व्यक्तिपरक कारकों के संयोजन के परिणामस्वरूप उस वक्त विकसित हुआ जब भारतीय लोग ब्रिटिश साम्राज्य की राजनीतिक प्रजा कहलाते थे।
2. स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व काल में देसाई के बौद्धिक एवं राजनीतिक जुड़ाव के केंद्र में अवधारणाओं एवं कार्यक्षेत्रों के रूप में उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद थे, जबकि स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात वर्षों में उनके केंद्रबिंदु राज्य का चरित्र और विकास का मार्ग हो गए।

### बोध प्रश्न 2

1. देसाई ने पार्टी के नौकरशाही ढाँचे में अपना दम घुटते देख पाँच साल की संक्षिप्त अवधि के बाद कम्युनिस्ट पार्टी छोड़ दी। इसके अलावा, उन्होंने उस वक्त भारत में ब्रिटिश युद्ध के प्रयासों के समर्थन के संबंध में पार्टी के रुख में बदलाव का विरोध किया जब वर्ष 1939 में नाजी जर्मनी द्वारा सोवियत संघ पर हमला किया गया।
2. भारत में पूँजीवादी विकास को सुगम बनाने वाले कारक हैं – पूँजीपति वर्ग और राज्य के बीच संबंध, विभिन्न संस्थाओं का गठन, यथा पूँजीवादी विकास को सुगम बनाने के लिए विधिक प्राधार एवं प्रशासनिक तंत्र, और साथ ही प्रमुख नीतिगत पहल, सार्वजनिक क्षेत्र, एक प्रमुख साधन के रूप में योजना, मिश्रित अर्थव्यवस्था और कल्याणकारी राज्य।